ज्योतिष्मती

दिव्य ज्योतिर्मय ! तुम्हारे स्पर्श से
हो गई यह तुच्छ कृति ज्योतिष्मती ।

ठाकुर गोपालशरणसिंह

प्रकाशक
इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग
१९३८

मूल्य २।।।)

समर्पण

प्रिय पूज्य पिता की पुण्य स्मृति
करती रहती है उज्ज्वल मन ।
उनके ही चरणों में अर्पित,
हैं ये मेरे उर - भाव - सुमन ।

निवेदन

जो अज्ञेय, अचिन्त्य एवं अप्रमेय है उसके विषय में क्या कहा जा सकता है ? तथापि अनादि काल से उस अनन्त का अनुसन्धान हो रहा है और युग-परिवर्तन से उसके सम्बन्ध में मनुष्य की जिज्ञासा कम नहीं हुई है। भारतवर्ष का अधिकांश साहित्य किसी न किसी रूप में उसी से सम्बद्ध है। वेद की ऋचाओं से लेकर रवीन्द्रनाथ के गीतों तक में उसके प्रति उद्‌गार हैं।

ऐसे गूढ़ विषय पर मेरा कुछ लिखना धृष्टता मात्र है। किन्तु सांसारिक उत्पीड़न और दुःख-दैन्य का ध्यान आते ही अदृष्ट करुणामय की ओर चित्त अनायास आकर्षित हो जाता है और कुछ कहने के लिए हृदय आतुर हो उठता है। इसी लिए मैंने पुस्तक के आरम्भ में ही लिख दिया है—

> तुम हो सुखमय स्वप्न
>
> वेदना की जागृति के।

इस संग्रह की कुछ रचनायें सन् १९२३ और १९२६ के बीच की हैं। कुछ इधर की। पहले की कवितायें प्रायः लम्बी हैं और बाद के छोटे छोटे गीत हैं। इन गीतों में अधिकतर पीड़ित आत्माओं का कातर स्वर ही सुनाई पड़ेगा।

यह आशा करना अत्यधिक न होगा कि इस पुस्तक की कतिपय पंक्तियाँ सहृदय जनों का थोड़ा बहुत हृदय-स्पर्श कर सकेंगी।

नईगढ़ी,
रीवा
१६-९-३८

गोपालशरणसिंह

———

विषय-सूची

तुम

हो तुम सुखमय स्वप्न
वेदना की जागृति के।
हो करुणामय प्रेम—
स्रोत तुम निठुर नियति के।

तुम

हो जगत के मुदित मानस—
मानसर के हंस,
अखिल आभामय तुम्हीं हो
प्रकृति के अवतंस।

हो मृदुल मानव-हृदय-तरु
के मनोहर फूल,
सोम-शोभित व्योम के
तुम हो मुकुट छवि-मूल।

विश्व की सब भावनाओं
के विमल आदर्श,
हो सुधी जन के विचारों
के तुम्हीं निष्कर्ष।

केन्द्र हो तुम कल्पना के
प्रेम - पारावार,
हो जगत की कामना के
तुम अतुल आधार।

नवम्बर, १९२३

तुम और मैं

रहता हूँ मैं सर्वथा
सतत तुम्हीं में लीन,
हो प्रभु प्रेम-पयोधि तुम
मैं हूँ मीन मलीन,
मैं हूँ मीन मलीन
प्रेम-रस को पीता हूँ,
पीकर ही बस उसे
मोदयुत मैं जीता हूँ।
प्रेम-सिन्धु की तरल
तरङ्गों में बहता हूँ,
तो भी प्रतिपल परम
तृषाकुल मैं रहता हूँ।

होता कभी न म्लान जो
हो तुम वह अरविन्द
रूप-सुधा-रस का रसिक,
मैं हूँ एक मिलिन्द।
मैं हूँ एक मिलिन्द
प्रीति तुममें रखता हूँ,
सतत सरस मकरन्द
तुम्हारा मैं चखता हूँ।
बहता रहता सदा
तुम्हारे रस का सोता,
पर तो भी संतोष
न मुझ लोलुप को होता।

गगन-विहारी भानु हो
तुम अति तेज-निधान,
एक सितारा क्षुद्र मैं
दीन मलीन महान।
दीन मलीन महान
अँधेरे में बसता हूँ,
पाता हूँ जब ज्योति
तुम्हारी तब हँसता हूँ।
पर मेरे हित क्या न
यही गौरव है भारी?
मैं भी हूँ द्युति-प्राण
तुम्हीं-सा गगन-विहारी।

आते तुम जब तक नहीं
मुझ पर उड़ती धूल,
हो वसन्त छविमन्त तुम
मैं छोटा-सा फूल।
मैं छोटा-सा फूल
छिपा रहता हूँ वन में,
आओ जल्दी नाथ !
यही जपता हूँ मन में।
जब तुम आकर रूप-
रङ्ग से मुझे सजाते,
मेरे सुख के दिवस
स्वयं ही फिर हैं आते।

सुखकारी तुम हो सजल
स्वाति-जलद गम्भीर,
प्यासा चातक एक मैं,
हूँ सर्वथा अधीर।
हूँ सर्वथा अधीर
भरोसा मुझे तुम्हारा,
हरती मेरी प्यास
नहीं अविरल जलधारा।
होती मुझ पर किन्तु
तनिक जब कृपा तुम्हारी,
एक बूँद ही मुझे
तृप्त करती सुखकारी।

जल कर मरता हूँ सदा,
तज जीवन-रस-रंग,
हो प्रभु प्रेम-प्रदीप तुम
मैं हूँ एक पतङ्ग।
मैं हूँ एक पतङ्ग
ढङ्ग है निपट निराला,
करती मुझको भस्म
प्रेम-दीपक की ज्वाला।
तो भी उसमें तनिक
न जलने से डरता हूँ,
लेता जब जब जन्म
सदा जलकर मरता हूँ।

मई, १९२५

अनुगामी

मैं तो हूँ अनुगामी।
जहाँ जहाँ तुम ले जाओगे
जाऊँगा मैं स्वामी।
जग से जिसे छिपा रक्खा था,
बड़े यत्न से मैंने,

जान गये वह भेद हृदय का
हो तुम अन्तर्यामी।
चलूँ तुम्हारे साथ नाथ! मैं
विश्व-मार्ग में कैसे?
मैं हूँ बन्धन-युक्त मन्दगति
तुम स्वतन्त्र द्रुतगामी।
किस विधि एक हृदय होकर मैं
तुममें ही मिल जाऊँ?
मैं हूँ निज उन्नति-अभिलाषी
तुम हो जग-हित-कामी।

अगस्त, १९३८

आकाश

यह विशाल आकाश,
क्यों मलीन रहता है जग को
देकर विमल प्रकाश ?
विश्व भूलता है अपने को
देख चन्द्र का हास,

किसे ध्यान है अन्धकार भी
करता वहीं निवास।
करती है लालिमा उषा को
क्षण भर नित्य विलास,
किन्तु झाँकती है पीछे से
सन्ध्या वहीं उदास।
सूर्य शशी उडुगण देते हैं
जिसका नित आभास,
देव ! छिपाये कहाँ तुम्हारा
है नभ वह उल्लास ?

अगस्त, १६३८

हृदयेश

कब से सूना है उर-देश ?
अन्धकारमय कर निज गृह तुम
कहाँ गये हृदयेश ?
कैसे ध्यान लगाऊँ तुममें
है न शान्ति का लेश ?
किन्तु खुला यह हृदय-द्वार है
आकर करो प्रवेश।
उत्सुक रहता हूँ सुनने को
मैं प्रतिदिन प्राणेश !

किरणें कौन तुम्हारा नभ से,
लाती हैं सन्देश।
कैसे जान सकूँ अजान मैं
तुम्हीं बने राकेश ?
आते हो तुम नित्य जगत में
बदल-बदल कर वेष।
अब असह्य वेदना हृदय की,
है हो गई विशेष,
कितनी और परीक्षा लेनी
तुम्हें अभी है शेष।
कौन अदृष्ट रूप से मेरा
खींच रहा है केश ?
सिद्ध नहीं होने पाता है
जीवन का उद्देश।
भोग चुका हूँ, जो जो तुमने
मुझे दिये थे क्लेश,
यह तो मुझे बताओ निर्मम
अब क्या है आदेश ?

जून, १९३८

तुम्हारे द्वार

देव ! तुम्हारे द्वार ।
आता है जग लेकर अगणित
दुख-क्लेशों का भार ।
चुन चुन कर उर के उपवन से,
भाव - सुमन सुकुमार ।

लाता है वह प्रेम-सूत्र में,
गूँथ, हार-उपहार।
इस अपार अवनीतल पर क्या,
रह जावे आधार?
कहीं छोड़ दे ध्यान तुम्हारा,
यदि पीड़ित संसार।
विश्व-वेदना के उर से जब,
उठती करुण पुकार।
तब तुममें हो ही जाता है,
करुणा का संचार।

सितम्बर, १९३८

कारण

भूल न जाऊँ कहीं
तुम्हें मैं यह डरता हूँ।
देव ! इसी से ध्यान,
तुम्हारा मैं धरता हूँ।

सूख न जावें कहीं
मृदुल पद-पद्म तुम्हारे।
इस भय से ही अश्रु-अर्घ्य
अर्पित करता हूँ।
हो न तुम्हारे वासस्थल में
कहीं अँधेरा।
इसी लिए मैं व्यथा-ज्योति
उर में भरता हूँ।

सितम्बर, १६३८

सम्बन्ध

है कैसा यह ढंग तुम्हारा ?
होकर भी तुम नाथ हमारे
हो कर रहे किनारा।
भटक रहा यह दास तुम्हारा,
कब से मारा मारा ?

पर क्या एक बार भी तुमने
उसकी ओर निहारा ?
तुमने उसको कब न उबारा,
जिसने तुम्हें पुकारा ?
क्यों है हमें भुलाया तुमने
क्या है भला विचारा ?
कैसे यह हम मानें तुमको
नहीं दीन है प्यारा ?
दीनबन्धु है नाम तुम्हारा,
कहता है जग सारा।
इस जीवन में नाथ ! हमें है
केवल यही सहारा,
अटल अटूट सर्वदा तुमसे
है सम्बन्ध हमारा।

दिसम्बर, १६२४

अनन्त

यदि एक बार तेरा
दर्शन अनन्त ! पाऊँ।
अपनी बहुत दिनों की
सब साध मैं मिटाऊँ।
जी भर विलोक तुझको
लोचन सफल बनाऊँ।
निज प्रेममय हृदय की
निधियाँ सभी लुटाऊँ।

तेरे पुनीत मग में
दृग - पाँवड़े बिछाऊँ ।
आसन बना हृदय को
सादर तुझे बिठाऊँ ।
कर स्वच्छ मन-भवन मैं
तुझको वहाँ टिकाऊँ ।
तजकर तुझे कभी मैं
सुर-धाम भी न जाऊँ ।
पद - रज पवित्र तेरी
निज शीश में लगाऊँ ।
दृग - नीर से चरण धो
फूला नहीं समाऊँ ।
निज प्राण के स्वरों में
गाकर तुझे रिझाऊँ ।
फल - फूल प्रेम - तरु के
सब मैं तुझे चढ़ाऊँ ।

अगस्त, १९२८

एकान्तवास

यह एकान्तवास मेरा,
सुखमय हो जाता यदि होता
योग यहाँ मेरा तेरा।
किन्तु पुरानी इच्छाओं ने,
मुझे यहाँ भी आ घेरा,
चिर-विस्मृत बातें भी मन में
करती रहती हैं फेरा।
उर को उकसाता रहता है
सूनापन भी बहुतेरा,
अपनी कठिन परिस्थितियों का
बना हुआ है मन चेरा।

अप्रैल, १९३७

मृग-तृष्णा

मृग-तृष्णा में मुझे फँसाया।

नाहक तुमने मुझे अंध-सा,
इधर - उधर भटकाया।
प्रबल मोह में मुझे फँसा कर,
थल में जल दिखलाया।
आशा देकर निपट निराशा—
नद में मुझे डुबाया।

इस प्रकार मेरे मानस में,
तुमने भ्रम उपजाया।
छला जा रहा हूँ मैं इसका,
मुझको ध्यान न आया।
जहाँ तहाँ दौड़ा कर मुझको,
तुमने व्यर्थ थकाया।
मुझे दुःख देकर बतलाओ,
तुमने क्या सुख पाया?
कुटिल कण्टकों से मेरा तन,
तुमने ही छिदवाया।
कभी गर्त्त में ही ले जाकर
तुमने मुझे गिराया।
मेरे साथ साथ कोई था,
दौड़ रहा घबराया।
मेरी ही छाया से तुमने,
यह धोखा दिलवाया।
लाकर तुमने मुझे विपथ पर
सीधा पथ भुलवाया।
कहाँ जा रहा था मैं, तुमने
कहाँ मुझे पहुँचाया?
थककर मैं म्रियमाण हुआ हूँ,
शिथिल हुई है काया।
तो भी मेरी प्यास बुझाना,
तुम्हें न अब तक भाया।

नवम्बर, १९२८

फा. ३

आवेदन

क्यों न अँधेरे में ही रहता
आठो याम हमारा वास ?
बतलाओ, क्या कभी हमारे
घर में तुमने किया प्रकाश ?

कब चिन्ता की सघन घटा से
हुआ विमुक्त हृदय-आकाश ?
फिर कैसे उर के मयङ्क का
हो सकता था कभी विकास ?

हमें तुम्हारे दिव्य रूप का
किस प्रकार मिलता आभास ?
तुममें ध्यान लगाने का कब
हमको प्राप्त हुआ अवकाश ?

तुमने कभी हमारे मन को
देव ! फटकने दिया न पास ।
तुच्छ वासनाओं का जग में,
बना न क्यों वह रहता दास ?

ऐसा नशा चढ़ाया तुमने
रहा न कुछ भी होश हवास ।
तुम्हें जानने का हम कैसे,
कर सकते थे कभी प्रयास ?

होता है कैसा भ्रमकारक
क्षणिक सम्पदा का उल्लास ?
अपने को भी भूल गये हम
बढ़ती गई विभव की प्यास।

कभी हमारे मोह-तिमिर का,
तुमने होने दिया न नाश।
और हमारी दशा देख कर
करते रहे सदा उपहास।

अच्छा, हँस लो जितना चाहो,
किन्तु हमें मत करो निराश।
हो न नाश का मूल हमारे,
कहीं तुम्हारा हास-विलास।

अप्रैल, १९२३

सर्वव्यापी

तुम हो सबमें व्याप्त नाथ !
कब जान सका मैं ?
तुम्हें अभी तक कभी नहीं
पहचान सका मैं।
व्यर्थ तुम्हें नित खोज-खोज
हैरान हुआ मैं,
दृग-युत भी क्या हाय !
न अन्ध-समान हुआ मैं।

होते हो तुम कभी न पल भर
जग से न्यारे,
पर भ्रम होता छद्म-वेश
को देख तुम्हारे।
छलती मुझको सदा
तुम्हारी ही है माया,
कुछ का कुछ सब काल
मुझे जिसने दिखलाया।

जिधर देखता उधर तुम्हीं को
मैं हूँ पाता,
तुम्हें निरन्तर देख-देख कर
भी न अघाता।
नयन तुम्हारे रूप-जाल में
हैं फँस जाते,
छवि-सागर में बार-बार
डुबकियाँ लगाते।

बदल-बदल कर वेश प्रकृति
सुन्दर मनमाना,
दिखलाती है कान्ति
तुम्हारी ही नव नाना।

क्षण भर में कर नाश
अपरिमित तम-कलाप का,
देता परिचय भानु
तुम्हारे ही प्रताप का।

षड् ऋतुओं की भिन्न-भिन्न
शोभा सुखकारी,
कुसुमों की कमनीय
क्यारियाँ न्यारी-न्यारी।
विहगों की छवि मञ्जु
मनोहर प्यारी-प्यारी,
सबमें सुषमा समा रही है
सतत तुम्हारी।

हरियाली हर समय
हृदय को हरनेवाली,
फल-फूलों से लदी हुई
पल्लवित द्रुमाली।
भाँति-भाँति की लता-
वल्लियाँ शोभाशाली,
दिखलाती हैं छटा तुम्हारी
निपट निराली।

वन-बाग़ों से कभी दृष्टि
जाकर है लड़ती,
कभी मनोहर शैल-शिखर
पर है वह पड़ती।
जहाँ देखती तुम्हें वहीं
जाकर है अड़ती,
प्रेम-पाश में उसे तुम्हारी
छटा जकड़ती।

लगती नभ में नित्य
निशा में सभा तुम्हारी,
खिल जाते नक्षत्र प्राप्त कर
प्रभा तुम्हारी।
सुखद सुधाकर सुधा
तुम्हीं से संतत पाकर,
हरता है भू-ताप नित्य
उसको बरसा कर।

जो तुम गाते वही गीत
खगकुल हैं गाते,
वही राग अनुराग-पूर्ण हैं
सिन्धु सुनाते।

गूँज रही है तान तुम्हारी
नभ, जल, थल में,
सुन पड़ती है वही
विश्व के कोलाहल में।

प्राणों का आधार सभी के
जो है प्यारा,
है वह शीतल पवन प्रेममय
श्वास तुम्हारा।
वह सौरभ सब कहीं
तुम्हारा ही फैलाता,
वन उपवन में सुमन-
सुमन में है बिखराता।

विधि ने रच कर विश्व
चरम चातुर्य दिखाया,
रूप अनूप विराट
तुम्हारा है उपजाया।
रहते हो तुम छिपे सदा
क्षिति के अञ्चल में,
शतदल-दल में, जलद-
पटल में तथा अनल में।

सितम्बर, १९२८

आराधना

कुछ न हो तुम किन्तु तुमको
छोड़ कुछ भी है नहीं।
तुम कहीं भी हो नहीं पर
हो तुम्हीं तो सब कहीं ?

रङ्ग क्या होगा तुम्हारा
जब नहीं आकार है।
पर तुम्हारे रङ्ग में
रहता रँगा संसार है।

हो अरूप प्रसिद्ध तुम, पर
विश्वरूप अनूप हो।
तुम प्रकृति के रूप में
पलपल बदलते रूप हो।

तुम अलोचन हो सही पर
अखिल लोचन हो तुम्हीं।
हो तुम्हीं भय-हेतु, पर
भव-भीति-मोचन हो तुम्हीं।

हो निरालय किन्तु आलय
हो तुम्हीं आलोक के।
हो अनाश्रय किन्तु आश्रय
हो तुम्हीं सब लोक के।

हो तुम्हीं चेतन अचेतन में
सदैव समा रहे।
हो निपट निर्गुण मगर सब
गुण तुम्हारे गा रहे।

हो नितान्त निरीह, पर तुम
प्रेम-वश्य प्रसिद्ध हो।
अप्रमेय अचिन्त्य हो, पर
तुम स्वयं ही सिद्ध हो।

जानते हैं सब तुम्हें, पर
तुम सदा अज्ञेय हो,
हो तुम्हीं आधार भी
एवं तुम्हीं आधेय हो।

तुम अगोचर हो तथा नित
नयन-गोचर हो तुम्हीं,
हो चराचर कुछ न तुम, पर
सब चराचर हो तुम्हीं।

हो तुम्हीं स्वामी जगत के
और चाकर भी तुम्हीं।
हो क्षपाकर भी तुम्हीं
एवं दिवाकर भी तुम्हीं।

हो रहित आकार से, पर
प्रेम में साकार हो।
भावना - वश लोक में
लेते सदा अवतार हो।

हो मही में तुम नहीं, हो
तुम नहीं आकाश में,
है तुम्हारा वास निश्चित
विश्व के विश्वास में।

अक्टूबर, १९२८

शुभाभिलाष

नहीं पाप की स्पर्शिनी प्रीति हो,
नहीं छद्म की सङ्गिनी नीति हो।
न सद्भाव की भञ्जिनी भीति हो,
नहीं रूढ़ि की रञ्जिनी रीति हो।

सभी का सदा सत्य ही धर्म हो,
न आडम्बरों से घिरा धर्म हो।
सदा सर्व-सम्मान्य सत्कर्म हो,
सदाचार ही धर्म का मर्म हो।

सभी बन्धनों से परे ज्ञान हो,
सदा सत्य सौजन्य का मान हो।
सभी को स्व-कर्त्तव्य का ध्यान हो,
गुणी के गुणों का गिरा-गान हो।

जहाँ शक्ति का बोलबाला रहे,
वहाँ न्याय का भी उजाला रहे।
गले में पड़ी नीति-माला रहे,
किसी को न कोई कसाला रहे।

नहीं निर्बलों को सतावे बली,
स्वयं ही छला नित्य जावे छली।
रहे शान्ति की बेलि फूली-फली,
खिले नित्य सद्भावना की कली।

नहीं सम्पदा आपदा से तने,
सखो दुष्टता की न शिक्षा बने।
नहीं दम्भ को भाग्य-लक्ष्मी जने,
नहीं शूरता क्रूरता में सने।

खलों की नहीं चाल कोई चले,
किसी के न उत्कर्ष से जी जले।
नहीं दाल अन्यायियों की गले,
सुखी हो सदा विश्व फूले-फले।

मैं

विश्व-नाटक का तुम्हारे
एक मैं हूँ पात्र;
पर दिखाता हूँ तुम्हें मैं
दुःख-अभिनय मात्र।

मैं

अपने से ही मैं करता हूँ
प्रश्न कि मैं हूँ कौन ?
फिर मैं क्या इसका उत्तर दूँ,
क्यों न रहूँ मैं मौन ?
अपने को ही क्या बतलाऊँ
मैं अपना ही नाम ?
क्या मैं अपना ग्राम बताऊँ,
क्या बतलाऊँ धाम ?

क्या है नहीं सोचिए मन में
यह अचरज की बात ?
मेरे ही दृग देख न सकते
हैं मेरा ही गात।
किस मतलब के लिए न जाने
हैं ये मेरे कान ?
कभी न सुन सकते हैं पल भर
ये मेरे ही गान।

छिपी सदा रहती है मुझमें
अद्भुत शक्ति महान,
पर न कभी आता है उसका
मेरे मन में ध्यान।
मैं हूँ मुक्त तथापि देखिए
क्या है मेरा हाल ?
अखिल बन्धनों से रहता हूँ
बँधा हुआ सब काल।

सदा ध्यान में ही मैं अपने
रहता अन्तर्धान,
तो भी नहीं जान सकता मैं,
अपना वासस्थान।

मैं क्या हूँ इसका होता है
मुझे कदापि न ज्ञान,
कभी नहीं मैं कर पाता हूँ
आत्म - सुधा - रस - पान ।

होते हैं आलोकित जिससे
मही और आकाश,
रहता है अन्तर्हित मुझमें,
वह भी दिव्य प्रकाश ।
चिदानन्द होकर भी मैं हूँ
रहता सतत उदास,
नित्य छिपा रहता है मुझसे
निज उर का उल्लास ।

आत्म-विषय में मैं करता हूँ
कितने ही अनुमान,
कुछ का कुछ मैं सोच-सोच कर
होता हूँ हैरान ।
जहाँ-तहाँ मैं भटक रहा हूँ
क्यों यों अन्ध-समान ?
अपने को ही खोज रहा मैं
हूँ कैसा नादान ?

अक्टूबर, १९२८

प्रतिनिधि

देव ! तुम्हारे पास ।
दीन दुखी जन का प्रतिनिधि बन,
आया था यह दास ।
लाया था उपहार-रूप में,
केवल दुख-निश्वास ।
पर आशा भी रही चित्त में
और रहा विश्वास ।
किन्तु तुम्हारी दशा देख कर,
मन हो गया हताश ।
जग की व्यथा-कथा सुनने का
तुम्हें नहीं अवकाश ।

सितम्बर, १९३८

प्रार्थना

रहूँ भले ही मैं उदास, पर
विश्व कभी न उदास रहे।
अन्धकार मेरे उर-तल का
बस मेरे ही पास रहे।
तुम पर हो विश्वास मुझे, पर
अपना भी विश्वास रहे।
पृथ्वी पर ही मेरे पद हों,
दूर सदा आकाश रहे।

सितम्बर, १९३८

अकेला

मैं हूँ यहाँ अकेला,
नाथ ! तुम्हारे आने की ही
देख रहा हूँ बेला।
जहाँ तुम्हारा वासस्थल है,
वहीं वास था मेरा,
किसने सुन्दर स्वर्ग-धाम से
नीचे मुझे धकेला ?
किस प्रकार फिर स्वयं तुम्हारे
निकट पहुँच मैं पाऊँ ?

लगा तुम्हारे आँगन में है
नक्षत्रों का मेला।
घन की सघन घटा से आवृत
रवि का रूप दिखाया,
खेल चुके बहु बार जिसे तुम
वही खेल फिर खेला।
अन्धकार में रहते रहते
ऊब गया मन मेरा,
ज्योतिर्मय! चिर-तममय गृह में
आकर करो उजेला।

जूलाई, १९३८

अपराधी

मैं हूँ अपराधी किस प्रकार ?

सुन कर प्राणों के प्रेम-गीत,
निज कम्पित अधरों से सभीत ।
मैंने पूछा था एक बार,
है कितना मुझसे तुम्हें प्यार ?

मैं हूँ अपराधी किस प्रकार ?

हो गये विश्व के नयन लाल,
कँप गया धरातल भी विशाल।
अधरों से मधु-प्रेमोपहार,
कर लिया स्पर्श था एक बार।
मैं हूँ अपराधी किस प्रकार ?

कर उठे गगन में मेघ घोष,
जग ने भी मुझको दिया दोष।
सपने में केवल एक बार,
कर ली थी मैंने आँख चार।
मैं हूँ अपराधी किस प्रकार ?

मई, १९३८

मौन व्यथा

कैसे कहूँ कथा ?
कहना नहीं चाहती कुछ भी
मेरी मौन व्यथा ।
सजल नयन मुझको विलोक कर
क्यों हो गई महो ?

क्या विषाद की कोई रेखा
मुख पर प्रकट रही ?
इन्द्रलोक से मेरी गाथा
क्या कह गई सची ?
शान्त महोदधि में क्यों हलचल
है इस भाँति मची ?
करुणामय से जाकर किसने
मेरी कथा कही ?
अनायास उनके लोचन से
सुर सरि-धार बही।

अगस्त, १९३८

जीवन-सागर

कब से नौका पड़ी भँवर में ?
होती है किस भाँति अकरुणा
करुणामय करुणा के घर में ?
सूझ नहीं पड़ता है कुछ भी
अन्धकार है रत्नाकर में,
है आलोक-लोक भी आवृत
बादल के दल से अम्बर में ।
नाश नाचता है गा-गा कर
लोल-लोल लहरों के स्वर में,
देव ! बचाओ डूब न जाऊँ,
मैं अपने जीवन-सागर में ।

अगस्त, १९३८

बन्दी

मैं हूँ बन्दी निज जीवन में।

कहीं रहूँ पर साथ शृङ्खला
चिन्ता की रहती है मन में।
जीवन में उत्साह नहीं है,
जीवन है उर के स्पन्दन में।
तो भी क्षीण कण्ठ-स्वर मेरा
मिलता है जग के क्रन्दन में।
मैं मधुकर-सा फँसा हुआ हूँ
जीवन के कण्टकित सुमन में।

करता हूँ मैं वास निरन्तर
स्वप्नों के अज्ञात सदन में।
देव! तुम्हारी करुणा-सरिता
सूख गई है तप्त नयन में।
पर रेखायें मूक व्यथा की
अङ्कित हैं शङ्कित आनन में।
मृदु कामना-सुमन भी मन के
कण्टक-से चुभते हैं तन में।
कारागृह की सब विभूतियाँ
प्राप्त हो गईं प्रेम-भवन में।

मई, १९३८

चुपचाप

क्यों मैं नहीं सहूँ चुपचाप
निज जीवन के क्लेश-कलाप ?

सुमन सूख कर झड़ जाते हैं
तो भी क्या कुछ कहते हैं ?
शीत-व्यथा सहकर भी तारे,
मौन सर्वदा रहते हैं।
क्यों मैं नहीं सहूँ चुपचाप
निज जीवन के क्लेश-कलाप ?

क्षुब्ध हिलोरों से हो सागर
उछल-उछल लहराता है।
तो भी वह निज मर्यादा से,
कभी न बाहर जाता है।
क्यों मैं नहीं सहूँ चुपचाप
निज जीवन के क्लेश-कलाप ?

देव ! तुम्हारी ओर देखती
करुण दृष्टि से पल-पल में।
मौन सदा वसुधा रहती है
व्यथा छिपाये अञ्चल में।
क्यों मैं नहीं सहूँ चुपचाप
निज जीवन के क्लेश-कलाप ?

जून, १९३८

वरदान

अब रोने से क्या होता है ?
तुमने है कर दिया विधान।
यही देखना है अब अपना
चलता है किस भाँति जहान।

अपने लिए हृदय में अपने,
हे किसको कितना सम्मान।
जगतीतल में मानवता की,
यही एक बस है पहचान।
सुख-दुख आते ही रहते हैं,
उनका क्या रखना है ध्यान ?
भय है कहीं न खो बैठूँ मैं
तुममें निज विश्वास महान।
भूल न जाऊँ मैं निजत्व को,
बन विपत्ति से मूढ़ अजान।
दुखमय जीवन से क्या डर है ?
देव ! तुम्हारा है वरदान।

मार्च, १९३६

अटल सम्बन्ध

तू अनन्त द्युतिमय प्रकाश है,
मैं हूँ मलिन अँधेरा।
पर सदैव सम्बन्ध अटल है
जग में मेरा-तेरा।
उदय अस्त का तेरा साथी
मैं ही हूँ इस जग में।
मैं तुझमें ही मिल जाता हूँ,
होता जहाँ सवेरा।

फ़रवरी, १९३९

लालसा

दर्शनार्थ खड़ा हुआ हूँ द्वार में,
डूबता हूँ निज नयन-जल-धार में।
खोल दो, तुम आज तो पट खोल दो,
बोल दो, निर्मम! तनिक अब बोल दो।

सोच लो कबसे तुम्हारी चाह में,
बह रहा हूँ प्रखर प्रेम-प्रवाह में !
है हुई पूरी न अभिलाषा कभी,
पर लगी है चित्त में आशा अभी।

जन्म भर में खोज करके सब कहीं,
हूँ यहाँ पहुँचा किसी विधि अब कहीं।
कर चुका दारुण दुखों का सामना,
पूर्ण कर दो आज मेरी कामना।

सरस-सौरभ-हीन नीरस तुच्छ हैं,
पर हृदय के पुष्प के ये गुच्छ हैं।
क्या न चरणों पर तुम्हारे मैं धरूँ,
फिर भला मैं भेंट क्या तुमको करूँ ?

बह रही जो अश्रु-जल की धार है,
वह बनाती मोतियों का हार है।
क्या न होगा वह तुम्हें स्वीकृत यहाँ,
हाय ! ले जाऊँ उसे मैं फिर कहाँ ?

लो करो स्वीकार मेरी अर्चना,
कर रहा हूँ मैं हृदय से वन्दना।
शक्ति दो, जीवन सफल मैं कर सकूँ,
और सुख-पूर्वक यहाँ मैं मर सकूँ।

एक बार तुम्हें यहाँ मैं देख लूँ,
धन्य अपने भाग्य को मैं लेख लूँ।
बस यही अब लालसा है रह गई,
और सब तो प्रेम-नद में बह गई।

नवम्बर, १९२३

निवेदन

न चिन्ता हमको इसकी नेक,
एक से दुख जो हुए अनेक।
यातना हम सह लें प्रत्येक,
न छूटे कभी तुम्हारी टेक।

हमें तो तुमसे इतनी प्रीति,
किन्तु है तुम्हें न तनिक प्रतीति।
हमें बस खलती यह अनरीति,
न दुःखों की है कुछ भी भीति।

हुआ है कभी नहीं संयोग,
दुःख देता है कठिन वियोग।
हँसें फिर क्यों न हमें सब लोग ?
सत्य ही है यह अद्भुत रोग।

विश्व में छाया अतुल प्रकाश,
दीखता हमें शून्य आकाश।
कुमुद-बान्धव का नहीं विकास,
कुमुद को हो कैसे उल्लास ?

जिसे हम रहे सदा अवगाह,
प्रेम का है वह सिन्धु अथाह।
भला हम कैसे पावें थाह ?
मिटे फिर क्यों उर का दुख-दाह ?

चाहता हो कुछ भी संसार,
हमें चाहिए तुम्हारा प्यार।
ठीक हो या कि अलीक विचार,
किन्तु धुन हम पर यही सवार।

परम जो ज्ञानवान मतिमान,
दिया क्या उन्हें दृष्टि का दान?
खले फिर क्यों हमको अज्ञान?
तुम्हें तो सब हैं एक समान।

मिलो चाहे न मिलो, सरकार,
हमें तो तुम्हीं एक आधार।
छोड़ दें कहीं तुम्हारा प्यार,
रहे तो जीवन में क्या सार?

दुःख हम भोग रहे भरपूर,
हुआ अभिमान सभी विधि चूर।
पर हमें सब कुछ है मञ्ज़ूर,
रहो यदि तुम न दृष्टि से दूर।

भले ही हो कुछ मन की भ्रान्ति,
हृदय में बसी तुम्हारी कान्ति।
तुम्हीं से मिलती जग को शान्ति,
तुम्हीं हो जीवन की विश्रान्ति।

अक्टूबर, १९२३

आत्म-समर्पण

देखना तो दूर है उसके अलौकिक रूप का,
 है नहीं आभास भी उसके अनूप स्वरूप का।
पर न जाने वह हृदय में किस प्रकार समा रहा ?
 है दृगों में प्रेममय आलोक उसका छा रहा।

विश्व कहता है कि वह रहता परे है ज्ञान से,
किन्तु क्षण भर भी नहीं हटता कभी वह ध्यान से।
मस्त हम रहते उसी के प्रेम-रस के पान से,
है हृदय रहता सदा गुञ्जित उसी के गान से।

नाम ग्राम न धाम उसका कुछ किसी को ज्ञात है,
यदि किसी को ज्ञात है तो बस उसी को ज्ञात है।
किन्तु तो भी हम उसे हैं खोजते रहते सदा,
वह यहाँ है, वह वहाँ है, सब यही कहते सदा।

है न कुछ हमको पता उसके हृदय के भाव का,
ज्ञान भी न तनिक हमें उसके चरित्र-स्वभाव का।
किन्तु तो भी हम उसे हैं आत्म-अर्पण कर चुके,
प्रेम के पीयूष से प्याला हृदय का भर चुके।

जनवरी, १९२३

याञ्चा

सत्य है मुझसे तुम्हारे,
हैं हज़ारों दास।
किन्तु तो भी है उचित;
रखना मुझे न उदास।
सब सरोजों का सदा,
करता दिनेश विकास।
एक-सा देता सभी को
है सदैव प्रकाश।

जानता हूँ मैं सभी विधि,
तुच्छ हूँ मतिहीन।
किन्तु तुमको छोड़ कर
जाऊँ कहाँ मैं दीन।
हो नहीं जल-बिन्दु क्यों,
अति क्षुद्र और मलीन।
पर पयोनिधि-गर्भ में,
होता न क्या वह लीन?

है रमा रहती रमापति!
नित तुम्हारे साथ।
सुरप भी रखता तुम्हारे,
चरण पर निज माथ।
क्या मुझे है लाज तुमसे,
माँगने में नाथ?
किन्तु मेरी लाज रखना
है तुम्हारे हाथ।

क्या न है सब कुछ तुम्हीं से
पा रहा संसार?
हो सभी भव-भूतियों के
बस तुम्हीं आधार।

है भरा रहता तुम्हारे
प्रेम का भाण्डार।
क्या कमी होगी मुझे
दोगे तनिक जो प्यार ?

मत कहो मेरे दुखों का
है न तुमको ज्ञान।
देव ! तुम निज दान से
क्यों हो बने अनजान ?
प्रार्थना है दो मुझे वह,
आत्म-शक्ति महान।
कर सकूँ मैं प्रेम-वेदी
पर अतुल बलिदान !

कामना

हमें चाहिए सुख न तनिक भी
दुख ही दुख ये प्राण सहें।
व्यथित हृदय में बस करुणा के
भाव-स्रोत ही सदा बहें।
घृणा नहीं हो हमें किसी से,
सभी जनों से प्यार रहे।
कोलाहलविहीन नित अपना,
सूना ही संसार रहे।

यदि जग हमसे रहे रुष्ट भी
तो भी हमें न रोष रहे।
हो न महत्त्व-मनोरथ मन में,
लघुता में संतोष रहे।
परम तृषाकुल इन नयनों में
पावन प्रेम-प्रवाह रहे।
केवल यही चाह है उर में,
कभी न कोई चाह रहे।

कोई भी विपत्ति आ जावे,
हृदय कभी भयभीत न हो।
कोई भी जीवन का संकट,
संकट हमें प्रतीत न हो।
चाहे इस संसार समर में
कभी हमारी जीत न हो।
किन्तु हृदय से दूर हमारे,
यह जीवन-संगीत न हो।

संसार

कर चुकने के बाद, न जाने
कितने कठिन युगों को पार।
नाथ ! तुम्हारी ओर झुकेगा
यह मदान्ध दुर्विध संसार।

संसार

है विचित्र संसार।
मानवता से घृणा और है
दानवता से प्यार।
प्रेम, दया, ममता भी करती
है निर्दय व्यवहार।

कोमलता के वासस्थल में
हैं अनुदार विचार ।
इतना स्नेहशील बनता है
अपना प्रिय परिवार ।
निज सुखमय जीवन भी जग को
हो जाता है भार ।
प्रेम-सदन भी बन जाता है
दुखमय कारागार ।
कठिन रोग से भी अति दुखकर
होता है उपचार ।
सूझ नहीं पड़ता है कुछ भी
छाया तिमिर अपार ।
हृदयस्थित चिर-ज्योतिर्मय हो
तुम्हीं एक आधार ।

दुर्बल संसार

यह दुर्बल संसार,
दबा जा रहा है ले सिर पर
बल-वैभव का भार।
शीश उठाने का प्रयत्न वह
करता बारम्बार,

किन्तु नहीं वह उठ पाता है,
भय से किसी प्रकार।
करती है प्लावित वसुधा को,
अविरल दृग-जल-धार,
तो भी नहीं द्रवित होता है,
उसका उर सुकुमार।
निज मर्यादा के भीतर ही,
रहता पारावार?
किन्तु लोल लहरें लहरा कर,
करतीं हाहाकार।
क्या न दीन के दुख क्लेशों का
कोई है उपचार?
करुणामय कब आप करेंगे
करुणा का सञ्चार?

अगस्त, १६३८

विश्व-गीत

फिर से कब आता है अतीत ?
जो बीत गया सो बीत गया,
क्यों तुम अब उससे हो सभीत ?
चाहे जो संकट आ जावे,
तुमको तो रहना है विनीत।

यह विश्व उसी का होता है
जिसकी निजत्व पर हुई जीत।
करुणामय करुणामय होंगे,
दुख की रजनी होगी व्यतीत।
है तुम्हें सदा चलते जाना,
है मार्ग तुम्हारा मनोनीत।
है छिपी रजत-रेखा उसमें
जो तममय होता है प्रतीत।
गाते जाओ सुख के स्वर में
दुखमय जीवन के मधुर गीत।

नियति

आशाओं की मादकता कुछ
रंग दिखाने वाली है ।
जीवन को अब कहाँ खींच कर
वह पहुँचाने वाली है ?

अभिलाषाओं के उपवन में
मधु-ऋतु आने वाली है।
यही देखना है अपने को
क्या वह लाने वाली है।
जो दुनिया है चली गई वह
कभी न आने वाली है।
पर जो दुनिया अब आई है,
वह भी जाने वाली है।
जीवन के सुख-दुख का निर्णय
नियति सुनाने वाली है।
देव ! घटा यह काली-काली
क्या बरसाने वाली है।

अगस्त, १९३७

जीवन-संग्राम

शान्ति शान्ति चिल्लानेवाले
लें न शान्ति का नाम ।
रुक सकता है कभी न जग में
जीवन का संग्राम ।

दुख ही जीवन में होता है
सुख का भी परिणाम।
है असफलता में जीवन का
होता पूर्ण विराम।
होने पाता पूरा जग में
नहीं एक भी काम।
दोपहरी में ही जीवन की
आ जाती है शाम।
बार बार तुमको पुकारता
है जग आठो याम।
देव ! न तुमको करने देता
पल भर भी विश्राम।

फ़रवरी, १९३७

भविष्य

जीवन का संघर्ष जगत् से
बढ़ता ही जाता है।
निठुर सत्य का रङ्ग चित्त पर,
चढ़ता ही जाता है।

देव ! हृदय की अभिलाषायें
मिटती हैं बेचारी,
आशा भी करती रहती है
जाने की तैयारी।
निज अतीत का दृश्य चित्त पर
अङ्कित ही रहता है।
हृदय न जाने क्यों सदैव ही
शङ्कित ही रहता है।
अन्धकारमय ही भविष्य का
चित्र दृष्टि आता है।
धीरे धीरे भाग्य-विभाकर
अस्त हुआ जाता है।

मार्च, १९३७

उपहास

डूब रहा है प्रलय-सिन्धु में
ललित उषा का हास।
और डूबता है सन्ध्या का,
अनुरञ्जित उल्लास।

नील व्योम है नील मही भी
    कहाँ विश्व का वास ?
तैर रहा है सारी क्षिति पर,
    जलनिधि में आकाश ।
ऊँची - ऊँची लहरें उठ कर
    मचा रही हैं नाश ।
तो भी यह सागर हँसता है—
    है कैसा उपहास ?

सितम्बर, १९३८

पागल

गाता जा गाता जा पागल।
सुमन हँसें, फूलें द्रुम बेलें,
कर दे तू जंगल में मंगल।
झूम - झूम कर भाव बतावें
नृत्य-निरत तरु में पल्लव-दल।

सिञ्चित हो सङ्गीत-सुधा से
विकसित हो वसुधा-उर-शतदल।
ऊपर तारागण हों चञ्चल,
नीचे सागर में हो हलचल।
तेरे मृदु गीतों के स्वर से
नभस्थली भर ले निज अञ्चल।
गान मुग्ध हो बहे समीरण,
फट जावें जग के दुख-बादल।
मृदुरव से गुञ्जित हो जल-थल,
सुन न पड़े जग का कोलाहल।
तेरे मधुर कण्ठ की ध्वनि से,
हो वसुन्धरा कम्पित पल-पल।
तुहिन-बिन्दु बन गिरे गगन से
करुणामय का अविरल दृग-जल।

जून, १९३८

परिणाम

आशा और निराशा का है,
समराङ्गण उर-धाम।
उनका ही संग्राम जगत में
है जीवन - संग्राम।

सुख-दुख के क्रीड़ा-स्थल का ही
है जीवन उपनाम।
लेने देते कभी नहीं वे,
जीवन में विश्राम।
अभी अधूरे पड़े हुए हैं,
सब दुनिया के काम।
रात शाम से ही आ बैठा,
ले शराब का जाम।
करने लगे अभी से क्यों तुम
आवाहन अविराम?
देव! देख लेने दो जग में
आशा का परिणाम।

अप्रैल, १९३७

कहाँ

कहाँ जा रहा है संसार ?

खींच रहा है उसे निरन्तर,
किसका निरुपम प्यार ?
किसका शुभ स्वागत करने को
दिनमणि ज्योति पसार,
फैलाता है किरण-जाल का
सुन्दर बन्दनवार ?
भरे अनन्त काल से अनुपम
रत्नों का भाण्डार,

हैं कर रहे प्रतीक्षा किसकी
पुलकित पारावार ?
लेकर रुचिर तारका-रूपी
मणियों का उपहार,
किसके निकट निशा-रमणी नित
करती है अभिसार ?
खोज रही है प्रकृति सुन्दरी
किसका शयनागार ?
किसे रिझाने को करती है
नये - नये शृङ्गार ?
लता वल्लियाँ पहन मनोहर
मृदु फूलों का हार,
किसे बुलातीं हिला-हिला कर,
किसलय-कर सुकुमार ?
पूछ रही है पवन, कहाँ है
मेरा प्राणाधार ?
कहाँ-कहाँ की ध्वनि से गुञ्जित
है ब्रह्माण्ड अपार ?

फ़रवरी, १९२९

मोह

चित्त तुझको बोल किसकी चाह है ?

देखती तू दृष्टि ? किसकी राह है ?

श्रवण तुम किसके मनोहर गान को—

चाहते सुनना-सुधामय तान को ?

नयन किसके देखने की चाह में,
बह रहे हो प्रेम-वारि-प्रवाह में ?
कौन है वह, है छिपा किस लोक में,
क्या नहीं आता कभी आलोक में ?

कुछ न तू जिसके विषय में जानता,
है न जिसको तनिक भी पहचानता;
क्यों हृदय तू है विकल उसके लिए ?
साँस भी क्यों है चपल उसके लिए ?

रे हृदय ! तेरा सभी अपराध है,
पर मिटी अब भी न तेरी साध है।
कब मिला उसका तुझे आभास भी ?
वह कहाँ है ? शून्य है आकाश भी।

दे रहा हूँ दूसरों को दोष मैं,
पर स्वयं क्यों हो गया बे-होश मैं ?
हाय, किसके ध्यान में हो लिप्त-सा
बन गया हूँ आज मैं विक्षिप्त-सा ?

मई, १९२२

अन्वेषण

क्या हुआ अहो, कुछ नहीं समझ में आता,
जो सोचूँ तो है और चित्त घबराता।
कुछ जान न पाया कौन कहाँ से आया,
ले गया हृदय पर नहीं देख भी पाया।

क्या करूँ, कहाँ मैं उसे खोजने जाऊँ ?
अब किस उपाय से उसे भला मैं पाऊँ ?
हैं लोग न उसका ठीक पता बतलाते,
कितने ही उसके मार्ग बताये जाते।

मैं उसे खोजने जहाँ-जहाँ हूँ जाता,
सब लोगों को बस उदासीन ही पाता।
है कहीं किसी को ज्ञान नहीं कुछ उसका,
बहुतेरों को तो ध्यान नहीं कुछ उसका।

जितने मनुष्य हैं अतुल शक्ति-बल-धारी,
वे लूट-पाट ही मचा रहे हैं भारी।
उस परम पिता को सब प्रकार से भूले,
रहते हैं अपने विभव-गर्व में फूले।

कितने ही दुखी कराह रहे बेचारे,
सहते सब अत्याचार मौन ही धारे।
उनको न किसी की कभी याद है आती,
निज दुख की चिन्ता उन्हें सदैव सताती।

जग के जो विश्रुत बड़े-बड़े हैं ज्ञानी,
उनकी बातें भी सुनी सुधा-रस-सानी।
मन पर अवश्य कुछ पड़ा प्रभाव निराला,
पर बुझी नहीं वह तृषित हृदय की ज्वाला।

कितनों ने ऐसे वचन कहे मन-भाये,
मानों वे उसके पास स्वयं हो आये।
मैंने भी उनकी बात सही ही मानी,
प्रेमी की होती बुद्धि सदा दीवानी।

कुछ लोगों ने यों कथा विचित्र सुनाई,
जिसको सुन कर कुछ हँसी मुझे भी आई।
वे अपने मन की भ्रान्ति न दूर हटाते,
पर औरों को उपदेश विशेष सुनाते।

कुछ लोगों ने तो मोल-तोल ठहराया,
लेकर यथेष्ट धन मुझे विमूढ़ बनाया।
जिसकी जाती है बुद्धि प्रेम-वश मारी,
होती उस पर हो सफल वञ्चना सारी।

तीर्थों में मैंने किया भ्रमण आजीवन,
पर मिला न उसका मुझे कहीं भी दर्शन।
जब श्रान्त क्लान्त हो शिथिल हो गई काया,
मैंने तब उसको छिपा हृदय में पाया।

फ़रवरी, १९२२

भूल-भुलैया

खोज-खोज थक गये न पाते तुम्हें कहीं हम,
खेलेंगे यह भूल-भुलैया और नहीं हम।
अच्छा तुमने हमें रात दिन है भटकाया,
कभी यहाँ तो कभी वहाँ तुमने अटकाया।

भटक रहे हैं इधर-उधर हम मारे-मारे,
किन्तु न आती सदय हृदय में दया तुम्हारे।
तरस रहे हैं तृषित विलोचन ये बेचारे,
छान चुके हैं धूल जगत की बिना बिचारे।

सभी कहीं हो कहाँ-कहाँ तुमको खोजें हम ?
बतलाओ तुम जहाँ वहाँ तुमको खोजें हम।
घर में खोजें तुम्हें या कि निर्जन कानन में ?
बाहर खोजें तुम्हें या कि भीतर निज मन में ?

जानें हम किस भाँति कहाँ तुम हो छिप जाते ?
सबमें तुमको व्याप्त सुधीजन हैं बतलाते।
रहते हो तुम प्रकट किन्तु हम देख न पाते,
इस कारण से और अधिक हम हैं घबराते।

नाथ ! तुम्हारे रूप रङ्ग का है न ठिकाना,
पल-पल में तुम वेश बदलते हो मनमाना।
कौन रूप कब धरे हुए हो कैसे जानें ?
यदि देखें भी तुम्हें भला कैसे पहचानें ?

कञ्ज-रूप में कभी सरोवर में तुम मिलते,
लता-अङ्क में कभी सुमन बन कर हो खिलते।
पाते तुमको कभी प्रकृति की नई छटा में,
कभी देखते तुम्हें जलद की सजल घटा में!

कभी चपल चञ्चलालोक बन कर तुम आते,
दृग मिच जाते, दिव्य ज्योति ऐसी फैलाते।
जब तक खुलते नयन शीघ्र तुम हो छिप जाते,
हो जाते हम चकित तुम्हें हैं देख न पाते।

सरस मनोहर भावमयी सुन्दर कविता में,
रहते हो तुम तेज यथा रहता सविता में।
सहसा हम तल्लीन उसे सुन कर हो जाते,
किन्तु छिपे हो तुम्हीं वहाँ यह जान न पाते।

यमुना-जल में देख चन्द्रमा को प्रतिबिम्बित,
होता है यह सदा हमारे उर में भासित।
कर काली का दमन मोद से हो मदमाते,
कालिन्दी से स्वयं तुम्हीं हो निकले आते।

जब प्रभात के समय प्रभाकर प्रकटित होकर,
फैलाता है दीप्ति नील-मणि-शैल-शिखर पर।
आता तब है सदा ध्यान में यही हमारे,
तुम्हीं खड़े हो वहाँ रुचिर पीताम्बर धारे।

बहु रङ्गों के इन्द्र-धनुष से भूषित होकर,
जब आता है दृष्टि नभस्थल में नव जलधर।
होता है वह ज्ञात साँवली मूर्त्ति तुम्हारी,
माला धारण किये विविध मणियों की प्यारी।

कभी रूप तुम दुखी दीन दुर्विध का धारे,
फिरते हो अति मलिन वेश में मारे-मारे।
भर आते हैं नयन देख कर स-करुण चितवन,
हम न चीन्हते तुम्हें भूलते हैं निज तन-मन।

नृपति-रूप में कभी हाथ में लेकर शासन,
करते जग में न्याय-दया का तुम संस्थापन।
आती है तब याद तुम्हारे राम-राज्य की,
भ्रान्ति-हीन नय-लीन शान्ति-सुख-धाम राज्य की।

निशि में हम हो खड़े जलधि के सुन्दर तट पर,
कभी न होते तृप्त देख वह दृश्य मनोहर।
जब तुम बन राकेश सङ्ग लेकर सब तारे,
करते विविध विहार वीचियों में मुद-धारे।

किसी शान्त एकान्त कुञ्ज के जब अन्तर में
करता कोकिल मधुर गान है पञ्चम स्वर में।
यह भ्रम खाकर तब विमुग्ध हम हैं हो जाते,
छिपे हुए बस तुम्हीं वहाँ हो वेणु बजाते।

निज किरणों से प्रात सूर्य जब हमें जगाते,
तुमको आया जान चौंक कर हम जग जाते।
किन्तु कुमुद को विमुद देख संशय हो आता,
क्योंकि तुम्हारा उदय सभी को है मुददाता।

मन-मन्दिर में कभी हमारे तुम घुस आते,
ऐसा आते हम न तनिक भी आहट पाते।
करके हृदय-कपाट बन्द तुम हो छिप जाते,
बाहर तुमको कहीं न पाकर हम घबराते।

हो तुम केवल एक सभी लोकों से न्यारे,
पर असंख्य दीखते जगत में रूप तुम्हारे।
रहता सन्तत एक सूर्य ही गगन-स्थल में,
पर अगणित प्रतिबिम्ब देख पड़ते हैं जल में।

दृग-पलनों में झूल रही है मूर्त्ति तुम्हारी,
पर सदैव है चर्म-चक्षु से रहती न्यारी।
रहते हो तुम हृदय-धाम में सदा हमारे,
प्राणों में हैं पड़े रुचिर पद-चिह्न तुम्हारे।

सितम्बर, १९२८

मुक्ति का द्वार

किसी गूढ़ अज्ञात विषय में
    लगा हुआ था मेरा ध्यान;
सहसा मुझको हुआ किसी के,
    आने की आहट का भान।
किन्तु चक्षुओं को चमका कर
    चारु चञ्चलालोक-समान।
मुझको पल भर दे निज दर्शन,
    हुआ अदर्शन वह छविमान।

क्या मैंने देखा था ? मुझको,
इसका कुछ भी रहा न ज्ञान ।
पर मेरे नयनों के भीतर
समा गया वह ज्योतिष्मान ।
खिंच-सा गया उसी क्षण मेरे
हृदय-पटल पर उसका चित्र ।
हुई न जाने तब से कैसी
मेरे मन की दशा विचित्र ।

जिधर देखता उधर उसी का
दिखलाई देता प्रतिरूप ।
जग में जगती हुई उसी की
ज्योति दीखती मुझे अनूप ।
चारों ओर देख पड़ती है
छटा उसी की ही अवदात ।
क्या वह क्षिति के सब पदार्थ में
करता है निवास अज्ञात ?

सूर्य-शशी के किरण-जाल में
छिपा उसी का दिव्य प्रकाश ।
मुझको मिलता इन्द्र-चाप के
रङ्गों में उसका आभास ।

गिरि-कानन में लता-द्रुमों में
सुमन-सुमन में शोभा-धाम।
मुझे दीखती कण-कण में भी
क्षण-क्षण उसकी छवि अभिराम।

जाना, जाना, जाना मैंने
संसृति में वह है साकार।
यह अनन्त संसार उसी का,
है विचित्र वैभव-विस्तार।
जन-जन में उसका जीवन है
उर-उर में उसका सञ्चार।
विश्व-प्रेम के बन्धन में ही
है सुख-मूल मुक्ति का द्वार।

अगस्त, १९२४

वर्ष के अन्त में

आ जाय करुणामय यहाँ
　　　　ऐसी वसन्त - बहार।
होकर मुदित फूले - फले
　　　　सुख से सकल संसार।
मिट जाय क्लेश-कुहिर तथा
　　　　सब भीति-शीत अपार।
हो जायँ निर्मल स्वच्छ अब
　　　　सबके हृदय - कासार।

हो ज्ञान-दिनमणि की प्रभा का
निर्विकार प्रसार।
सद्भाव सरसिज खिल उठें
सुख-शान्ति के आधार।
हो प्रेम-मलयज का मही में
सब कहीं सञ्चार।
शुचि सत्य-सोता की बहे
अविकल विमल कलधार।
हो नव-विवेक-विचार-पल्लव—
की अतुल भरमार।
हो भ्रातृ-भाव-प्रसून अब
सबके गले का हार।
हो आत्म-त्याग-पराग का
जीवन-सुमन आगार।
हो मन-मधुप निर्भय करे
मृदु तर्क की गुञ्जार।
आत्मा-मयङ्क-विकाश का
उन्मुक्त हो अब द्वार।
हो शान्ति-रूपी कौमुदी का
सब कहीं प्रस्तार।
सौजन्य-शोभन-सुमन ही
सबका बने शृङ्गार।
संसार को सुख-सरस-सौरभ
का मिले उपहार।

दिसम्बर, १९२३